

## खीझ के बजाय

पल्लव

**शि**क्षा क्या है ? शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए ? चूंकि ये सवाल सबसे निचले पायदान पर खड़े आदमी से लगाकर सभ्यता को गति देने वाले विचारकों-उद्योगों-सरकारों अर्थात् हर किसी से जुड़े हुए हैं अतः जरूरी है कि इन सवालों पर विचार भी हर दृष्टि से हो। आखिर किसान के बेटे के लिए शिक्षा का अर्थ वही तो नहीं जो बिल गेट्स की संतान के लिए है। सुपरिचित कथाकार प्रेमपाल शर्मा के लिए शिक्षा का सहज अर्थ है 'पढ़ने का आनंद'। यह उनकी नई पुस्तक का शीर्षक भी है और वे प्रस्तावना में लिखते हैं- 'जिस शिक्षा का चेहरा ऐसा क्रूर हो कि बच्चे और नौजवान आत्महत्या करने को मजबूर हों, जो आपके चेहरे, विचारों को और सांप्रदायिक, जातिवादी, कूपमंडूक बनाए; जो प्रतिभा के नाम पर सिर्फ रट्टू, डिंडोरची नागरिक बनाए, उसे आज और अभी बदलने की जरूरत है और यह तभी संभव है जब हम और हमारे

### लेखक परिचय

लगभग एक दशक से हिन्दी साहित्य का अध्यापन, हिन्दी की लघु पत्रिका 'बनास' के संपादक। संप्रति : हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में साहित्य के प्राध्यापक।

### लेखक परिचय

हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय  
नई दिल्ली-110007

बच्चे हंसते-खेलते 'पढ़ने का आनंद' में शामिल हों। पुस्तक में लगभग पचास से अधिक छोटे-बड़े आलेखों में प्रेमपाल शर्मा की मुख्य चिन्ता इसी आनंद को बचाए रखकर शिक्षा को सही मायने में वैज्ञानिक विकास और सार्थक परिवर्तन का उपकरण बनाने की रही है। इसके लिए वे जो पहली शर्त मानते हैं वह है चयन की आजादी, कैसा भी विषय पढ़ने की छूट और आगे बढ़कर कोई भी काम कर सकने का अवसर जब तक हमारा समाज नहीं देगा तब तक प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ रूप सामने नहीं आ सकता। वे जिस एक और बात पर जोर देते हैं वह है कल्पनाशीलता, क्योंकि रटन्त पद्धति से सूचनाएं तो मस्तिष्क में ठूंसी जा सकती हैं निहितार्थ नहीं। फिर उर्वर कल्पनाशीलता के लिए वे स्वस्थ तन और मन की जरूरत बताते हैं। यहां परिश्रम की अनिवार्यता पर बल देते हुए वे एक जगह पर लिखते हैं- 'काम की शिक्षा दी गई होती तो सारी हिन्दी पट्टी समेत बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश सारे संसाधनों के बावजूद इतने दरिद्र न होते। हिन्दी प्रदेशों में बढ़ते अपराध के ग्राफ का सीधा रिश्ता इस काम की संस्कृति से भी है'। वे आगे उदाहरण देते हैं कि किस तरह गांव-देहात में 'सभी को खेत-खलिहान, बागवानी या दुकान के काम में हाथ बंटाना होता था और पढ़ाई भी। ...इसके बरअक्स है नगरों-महानगरों की शिक्षा, जहां एकमात्र काम है स्कूल जाना। यह पीढ़ी घर के किसी भी काम से बचने की तलाश में रहती है। बहुत हुआ तो मुहल्ले में क्रिकेट। यही शारीरिक श्रम है इनका, इससे पहले 'खिलाने वाले-खाने वाले' आलेख में शिक्षा और परिश्रम की ऐसी ही दूरियों को रेखांकित करते हैं- 'काम करने वालों का जितना अपमान इस देश में है, उतना कहीं नहीं

होता होगा। शिक्षा में काम और काम में शिक्षा का थोड़ा भी ध्यान रखा जाता तो हम इतने इकहरे नागरिक नहीं बनाते।' वे एक सरकारी कर्मचारी की पत्नी का उदाहरण देकर कहते हैं- 'आगे बढ़ने से पहले यहीं रुककर विचारने की जरूरत है। दिल्ली के आस-पास कोई भी सरकारी कर्मचारी सब्जी बेचने के काम के बारे में सोच भी नहीं सकता, बल्कि उसे हिकारत से देखेगा, उसी अंदाज में, जैसे उसका साहब देखता है, मानो सब्जी बेचना अपराध हो। उसे दफ्तर से भागना, लेट पहुंचना, रिश्तत में हिस्सा लेना, येन-केन सरकारी मशीनरी को चूना लगाना अपराध नहीं लगता। हां, ऐसे काम गैर-सम्माननीय, टुच्चे, 'बिलो डिगनिटी' लगते हैं और जब वे ऐसा सोचते हैं तो भला उनकी पत्नी सब्जी बेचेगी ?'

शिक्षा के बाजारीकरण (बल्कि बाजारूकरण अधिक उपयुक्त होगा) पर पुस्तक में बार-बार चिन्ता-सवाल है। एक आलेख 'ट्यूशन का कहर' में वे इस प्रवृत्ति को आगे जाकर बड़े मसलों से जोड़ देते हैं। वे लिखते हैं- 'स्कूल खुलने से पहले जो शिक्षक पैसे के लिए किए गए ट्यूशन में इतना परिश्रम करके आया हो, उसमें स्कूल में पढ़ाने की कितनी सामर्थ्य बचेगी ? देखा जाए तो यह भ्रष्ट समाज का ही चेहरा है, जिसमें यह शिक्षक गर्व से कहता है कि 'मैं तो मेहनत का पैसा लेता हूं। रात-दिन जान लड़ाता हूं। आपके रेल, टेलीफोन, नगर निगम में तो लोग बिना काम के ही घूस लेते हैं।' आगे वे इसे विदेशी विश्व-विद्यालयों से जोड़ते हैं। 'जिन्हें उनके अपने देश में ही कौड़ियों के भाव भी कोई नहीं पूछता।' और इसे वे ट्यूशनी शिक्षा का अगला आयाम बताते हैं। यह बाजारूपन ही है कि अब येन-केन डिग्री चाहिए और वह भी सर्वोत्तम अंकों से। इसका दबाव बचपन से कॉलेज तक फैल गया है। वे लिखते हैं 'उदारीकरण के बाद विशेष रूप से बढ़ते मध्यवर्ग के अभिभावक एक ऐसे रटंत परिवेश की उपज हैं कि नंबरों की दौड़ उनका पीछा ही नहीं छोड़ रही। दिल्ली के एक नामी स्कूल के कुछ अभिभावकों ने अपने बच्चे इसलिए हटा लिए कि वहां ग्रेडिंग प्रणाली की वजह से यह पता नहीं चलता था कि नाइंटीवन परसेंट आए या नाइंटीवन पाइंट फोर।' आश्चर्य नहीं कि यही बच्चे आगे जाकर 'शोध' और 'प्रोजेक्ट' भी खरीदने में यकीन करें। प्रेमपाल शर्मा 'डिग्री का प्रोजेक्ट' में इसी बाजारू प्रवृत्ति को चिह्नित करते हुए स्टेनले मिलर का उदाहरण देते हैं। वे उन्हें अपना प्रिय वैज्ञानिक बताते हैं। क्यों ? 'कारण एक तो जीवन की उत्पत्ति की खोज के लिए, लेकिन उससे भी ज्यादा इसलिए कि यह युगांतरकारी प्रयोग उन्होंने अपने शिकागो



लेखक : प्रेमपाल शर्मा  
प्रकाशक : सामयिक बुक्स, नई दिल्ली  
मूल्य : 360 रुपए

विश्वविद्यालय में कॉलेज की प्रयोगशाला में किया था, जिस पर आगे चलकर उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला।' 'डिग्री' और 'प्रोजेक्ट' जहां खरीदने-जुगाड़ने का उपक्रम होता हो वहां आविष्कार कैसे हो सकते हैं भला ?

पुस्तक में वे शिक्षा के साथ भाषा और समझ के माध्यम पर भी बड़ा जोर देते हैं। उनका मानना है- 'पढ़ने-लिखने का मतलब ही एक समझ का पैदा होना है और इस समझ को शिक्षा के आरंभ में केवल अपनी पहली भाषा से ही विकसित किया जा सकता है। एक बार अपनी भाषा के औजार से समझ आ जाए तो दूसरी भाषाएं और

उनमें उपलब्ध ज्ञान को समझना भी उतना आसान हो जाता है।' वे अपनी बात के समर्थन में एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा 'समझ का माध्यम' विषय पर की गई गोष्ठियों का हवाला देते हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि उच्च शिक्षा को अब अंग्रेजी के हवाले न छोड़ा जाए। हम जानते हैं कि राजभाषा हो जाने से हिन्दी वह नहीं हो जाती जो ज्ञान-विज्ञान और संवाद की कोई भी समर्थ भाषा होती है। समाज विज्ञान की ही बात करें तो श्यामाचरण दुबे और पूरनचंद्र जोशी जैसे अपवादों को छोड़कर हमारे पास मूल हिन्दी में लिखने वाले समाज विज्ञानी ही नहीं हैं। पराई और उधार की भाषा से अपने सवाल हल नहीं हो सकते।

अकारण नहीं कि शर्मा सरकारी स्कूलों के बड़े पक्षधर हैं। एक कारण तो यही कि वहां आमतौर पर दलित और निर्धन वर्ग के बच्चों के लिए भी गुंजाइश मौजूद है, दूसरा कारण भाषा का है। पुस्तक में दो-तीन बार ऐसे उदाहरण दिए गए हैं जब अंग्रेजी माध्यम का शिक्षार्थी असफल होकर इन सरकारी हिन्दी स्कूलों में आया तो कैसा चमक उठा। वहीं शिक्षा के साथ धर्म और सांप्रदायिकता के उलझे सवालों पर भी शर्मा विचार करते हैं। वे लिखते हैं- 'भारत में 21वीं सदी धर्म के पाखंडों का साथ नहीं छोड़ पा रही है। देशभर में कुकुरमुत्तों की तरह बढ़ते मंदिर, मदरसे, समाज को आगे ले जाने की बजाय पीछे ले जाने पर तुले हैं।'

पुस्तक में शिक्षा से संबंधित कुछ संस्थानों, गतिविधियों एवं किताबों पर भी स्वतंत्र आलेख हैं। असल में शिक्षा के बावजूद हो रही विसंगतियों पर खीझकर मुंह बिगाड़ने के बजाय शर्मा इन विसंगतियों की गहराई में जाते हैं और जहां कहीं समझदारी की रोशनी उन्हें दिखाई पड़ती है वे उसका उल्लेख करना नहीं भूलते। कहना न होगा कि ऐसी पुस्तक शिक्षकों, शिक्षार्थियों के लिए ही नहीं सामान्य अभिभावकों के लिए भी बेहद रुचिकर है। ♦